सम्पादकीय

सक्रियता का दिखावा

आग लगने के बाद कुआं खोदने की परम्परा जब तक चलती रहेगी तब तक यह देश यूं ही दुर्घटनाओं से दो-चार होता रहेगा। दिल्ली में एक वेब टैक्सी में युवती से बलात्कार हो गया तो केन्द्र ने सभी राज्यों से ऐसी टैक्सियों पर पाबंदी लगाने का फरमान जारी कर दिया। दिल्ली में बलात्कार की घटना समाचारपत्रों और चैनलों की सुर्खियां ना बनती तो केन्द्र सरकार को वेब टैक्सियों पर पाबंदी लगाने की बात सूझती ही नहीं। हो-हल्ला ज्यादा मच जाए तो सरकार ये दिखाने में सक्रिय हो उठती है कि इस दिशा में वह सतर्कहै और जरूरी कदम उठा रही है। देश के गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने दिल्ली में हुए बलात्कार को शर्मनाक बताते हुए वही रटा-रटाया बयान पढ़ दिया जो पिछली सरकार दस सालों से देती आ रही थी। खास बात ये कि ऐसे बयानों को राजनाथ और उनके दल के नेता रस्म अदायगी बताते थे।

गृहमंत्री ने बलात्कार पर रटा-रटाया बयान पढ़ दिया जो पिछली सरकार देती आ रही थी। खास ये कि ऐसे बयानों को पहले वे रस्म अदायगी बताते थे।

संसद में राजनाथ बोले कि अपराधी पर सख्त कार्रवाई की जाएगी। दिल्ली में संवेदनशील इलाकों में गश्त बढ़ा दी गई है तथा लड़कियों को आत्मरक्षा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। सरकार टैक्सी सेवा को और सुरक्षित बनाने पर विचार कर रही है, आदि-आदि। दो-चार दिन में मामला ठंडा पड़ा नहीं कि यही मंत्री-अधिकारी भूल जाएंगे कि संसद में उन्होंने कहा क्या? बात बलात्कार या आपराधिक मामलों की ही नहीं। किसी राज्य में कोई 'प्रिंस' गड्ढ़े में क्या गिर जाए, समूची सरकार का ऐसा जमघट लग जाता है जैसे सरकार के पास कोई दूसरा काम है ही नहीं। आनन-फानन में कलक्टरों को खुले पड़े ऐसे गड्ढ़ों को भरने के निर्देश दे दिए जाते हैं। बड़े शहरों में विस्फोट होने के बाद ही सरकार को सीसीटीवी कैमरों की सुध आती है। इससे पहले किसी को पता नहीं होता कि सीसीटीवी कैमरे कहां-कहां लगे हैं? कितने काम कर रहे हैं और कितने खराब हैं? खराब कैमरों को ठीक कराने की कोई व्यवस्था है भी या नहीं? यही हाल बड़े आयोजनों के दौरान मचने वाली भगदड़ के बाद उठाए जाने वाले कदमों का होता है। पहले ये ध्यान देने वाला कोई नजर नहीं आता कि हजारों लोगों के जुलूस अथवा मेलों में भगदड़ रोकने के लिए क्या जरूरी कदम उठाए जाने चाहिए। यानी आग लगे तो कुआं खोदो वरना क्या जरूरत है, इस व्यवस्था ने देश को हर मोर्चे पर परेशानी में डाल रखा है। मंत्री हो या अधिकारी, अधिकारों को लेकर सब चिन्तित हैं लेकिन जिम्मेदारी का बोझ उठाने को कोई तैयार नहीं। बात अपने पर आ ही जाए तो दूसरे विभाग को दोषी ठहरा कर बच निकलने की बढ़ती प्रवृत्ति देश का बंटाधार कर रही है। लगता है सबने खामोशी की चादर ओढ़ रखी है।

हो सकता है मैं आपके विचारों से सहमत न हो पाऊं फिर भी विचार प्रकट करने के आपके अधिकारों की रक्षा करूंगा। - वाल्तेयर

बात-करामात

बूढ़ी हाय

वक्त हर शह पर राज करता है क्योंकि जिन्दगी वक्त की गुलाम होती हैं। वक्त के बारे में बड़े-बड़े बुद्धिमानों, ज्ञानियों और अदीबों ने खूब सोचा है और सोच सोच कर हजारों कागद काले किए हैं। उनके सामने हम क्या और हमारी औकात क्या? यूं समझिए जैसे पर्वत के सामने एक पत्थर, विशाल रेगिस्तान के सामने एक ज़र्रा और समन्दर के सामने एक कतरा। लेकिन बावजूद इसके हम कहते हैं कि आज समय को बूढ़ी हाय लग रही हैं। आज किसी भी पढ़े लिखे घर में चले जाईए। वहां आपको बूढ़े-बुढ़ियां बैठे बैठे वक्त काटते मिलेंगे। और वक्त है कि मुलायमसिंह के बर्थडे केक की तरह इतना लंबा हो जाता है कि काटे नहीं कटता। बूढ़ी हाय का कारण है।

हर मां बाप चाहते हैं कि उसका बेटा पढ़ लिख कर आगे बढ़े, खूब कमाए। बस इसी चाह में मां-बाप बेटे की पढ़ाई पर जी लगा कर खर्चा करते हैं और जब बेटा पढ़ लिख जाता है तो वह चेन्नई, बेंगलूरु, पूणे , हैदराबाद या नोएडा जाकर शिफ्टों में काम करने लगता है। शुरू-शुरू में तो मां-बाप पीएम नरेन्द्र मोदी की तरह छप्पन इंच तक सीना फुला कर अपने बेटे की उन्नति का गुणगान करते हैं पर जैसे-जैसे उनका बुढ़ापा गहराता है वे जमाने को कोसने लगते हैं। आज कल बेटा भी एक ही होता है। बेटी को तो ब्याह के बाद अपने घर जाना ही है लेकिन यहां तो देखते ही बेटा भी पराया हो जाता है। अलबत्ता रोज रात को मोबाइल पर बेटे से बातें होती है पर पहला सवाल होता है कि खाना खाया या नहीं? और खाया तो क्या खाया? बेटा भी इस सवाल का इतना अभ्यस्त हो जाता है कि चाहे उसने बटर चिकन खाया है पर कहता है तर आलू और बैंगन का भरता खाया है। यह मध्य वर्ग की त्रासदी है। मां-बाप करें तो क्या करें। बोर होकर टीवी देखते हैं। एक ही खबर को सत्रह बार सुनते हैं। मां-बाप को बेटे की कमाई से इसलिए कोई लेना देना नहीं कि खुद उसकी पेंशन ही खर्च नहीं होती। और बेटा भी इंतजार करता है कब मां-बाप अपने सौ बरस पूरे करें और वह अपना पुश्तैनी मकान बेचकर महानगर के 'टूबीएचके' खरीद ले। हम एकाध ऐसे बापों से भी मिले हैं जो अपने बेटे को पढ़ाई छुड़ाकर किसी धंधे में लगा देते हैं कि कम से कम बेटा उनके पास तो रहेगा। पता है आज हमारी सोसायटी में इतनी आपाधापी, हाहाकारी, बदमिजाजी और डुक्कमडुक्कई क्यों बढ़ रही है। असल में आज समय को बूढ़ी हाय लग रही हैं और यह हाय समाज के लिए जीती जागती चिता बन रही है। क्या आपके पास 'हाय' बचने का कोई उपाय है? है तो बताईएगा जरा। **– राही**

> बूढ़ा आदमी किसी को 'हाय' तब देता है जबकि वह 'नकनकीन' आ जाता है, यानी पानी जब उसकी नाक तक आता है तब वह किसी से बुरी बात कहता है।

प्रत्यक्ष : क्षमा

महासमर 2289

यहां रहोगी तो अपनी सपत्नियों के साथ अपने पति को प्रतिक्षण बांटती रहोगी। अच्छा लो, कुछ खा लो। तुम्हारे लिए मिष्टान्न लाई हूं। हमारे भगिनीपति तो अब तक अपने मधुर वचनों से तुम्हारा पेट भरने का प्रयत्न करते रहे होंगे। उनके पास वे हैं भी प्रभूत मात्रा में। अब तक तुम्हें विश्वास दिला दिया होगा कि तुमसे प्रेम करने वाले संसार में वे अकेले ही हैं। माता-पिता, भाई बहनों का प्रेम तो कोई प्रेम होता नहीं।' देवकी भावशून्य दृष्टि से कंसा को देखती रहीं: यह कैसी स्त्री है। इतनी बड़ी दुर्घटना हो जाने पर भी यह इस प्रकार चुहल कर रही है, जैसे कुछ असाधारण हुआ ही न हो। देवकी से कंसा के लाए मिष्टान्न में से कुछ भी खाया नहीं गया। 'क्या हो गया है तुझे?' अंततः कंसा बोली। 'तुम्हें नहीं मालूम?' देवकी ने कुछ शुष्क स्वर में पूछा। 'शैशव में ऐसा कितनी बार हुआ है कि कंस भैया ने मेरी चोटी पकड़कर मुझे घसीट लिया अथवा दो चांटे लगा दिए और तुझे सदा स्नेह ही दिया।' कंसा बोली, 'उन्होंने सदा तुम्हारा ही पक्ष लिया। मुझे तो डांटते और पीटते ही रहते थे, और अब भी कौन से बदल गए हैं।

आज यदि तुझ पर खड्ग उठा लिया तो इसमें इतना दुखी होने की कौन-सी बात है। खड्ग ही तो उठाया है, तेरा मस्तक तो नहीं काट लिया।' 'मस्तक काटा तो नहीं, पर अपनी इच्छा तो प्रकट कर ही दी हैं।' देवकी ने उसकी ओर देखा , 'मेरे पुत्रों के लिए निश्चित मृत्यु की घोषणा कर दी है।' 'मृत्यु! जैसे तेरे पुत्रों ने जन्म ले ही लिया हो और जैसे कंस ने कभी अपनी इच्छाओं, प्रयत्नों और आदेशों को परिवर्तित ही न किया हो।' कंसा हंसी, 'अरी पगली! वह तो कंस है। क्रुद्ध होता है तो मृत्यु से कम की बात ही नहीं करता और प्रसन्न होता है तो उसे स्मरण भी नहीं रहता कि वह कभी रुष्ट भी था।' 'हां! ठीक है।' देवकी ने उसे टालना चाहा। 'तो फिर ऐसे मुंह बनाए क्या बैठी हो?' कंसा देवकी को हंसाने के प्रयत्न में जोर से हंसी। पर प्रयत्न करके भी देवकी हंस नहीं पाईं। भाई-बहन का यह कोई ऐसा झगड़ा नहीं था, जिसे विरोधविहीन सामयिक झगड़ा मान लिया जाए। ऐसा ही होता तो कंस ने अपने पिता उग्रसेन को कब से कारागार से मुक्त कर दिया होता और उनसे क्षमा मांग ली होती। भाई-बहनों का क्रीड़ा में झगड़ा और बात है और अपने प्राणों के भय से विरोध पालना कुछ और। कंस की क्रूरता से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वह इस बात को भूल जाएगा। 'कहीं तुझे ऐसा तो नहीं लग रहा कि तेरे पहले पुत्र का जन्म आज ही हो जाना है।' कंसा ने उसे गुदगुदाया, 'उसमें कुछ तो समय लगता है बहना! चाहो भी तो समय से पहले कुछ नहीं होता।' 'जानती हूं।' 'तो जा!

मथुरा से बाहर चली जा। कुछ दिन भ्रमण कर आ। तेरा मन बहल जाएगा और तू इस दुखद घटना को भूल जाएगी।' देवकी ने वसुदेव की ओर देखा। 'तुम चाहो तो कंसा बहन के साथ चली जाओ। मैं तो मथुरा छोड़कर जा नहीं सकता। मेरा परिवार है। तुम्हारे अतिरिक्त भी तो मेरी रानियां हैं। फिर मैं महाराज का मंत्री हूं। महाराज की सभा मथुरा में ही रहेगी। मैं मथुरा छोड़कर कैसे जा सकता हूं।' वसुदेव बोले। 'मैं तो पहले ही जानती थी कि जिस पुरुष की पहले भी रानियां हों, उससे विवाह करने पर कन्या को कोई विशेष सुख नहीं मिलता। पर काका ने मेरी बात सुनी ही नहीं। ब्याह दी हमारी परम सुंदरी देवकी भी वृष्णिश्रेष्ठ से।

क्रमशः **– नरेन्द्र कोहली**

उन्नति के लिए वायुमण्डल तैयार होता है सेवा और प्रेम से, न कि विधि निषेधात्मक आज्ञाओं और आदेशों से। - **स्वामी रामतीर्थ**

पोलमपोल भायो | झाड़खण्ड-कशमीर में, गोळ्याँ रहग्या दाग मतदाता का बोट सूँ, मूण्डे आग्या झाग

स्पॉटलाइट

न्याय की धीमी चाल : 39 साल बाद आया पूर्व रेल मंत्री की हत्या के मामले में फैसला

अब और विलंब नहीं

हम कितने विरोधाभासी समय से गुजर रहे हैं इसका कुछ अंदाजा न्याय प्रणाली के बारे में जनमानस में बैठी धारणाओं से भी लग सकता है। एक तरफ हम कहते हैं कि देश में व्याप्त भारी भ्रष्टाचार के बीच आम जनता को सिर्फ न्यायपालिका से ही उम्मीद है। दूसरी तरफ यह भी सच है कि आम आदमी कोर्ट-कचहरी के चक्कर में पड़ना नहीं चाहता। जिससे सबसे अधिक उम्मीद उसी से दूर रहने की चाहत क्यों है! जनता में बैठी इस धारणा की सबसे बड़ी वजह है सालों-साल चलने वाले मुकदमे। आखिर क्यों अदालतें देती रहती हैं तारीख पर तारीख? हमारी न्याय प्रणाली में कौन सी खामियां हैं? इसके लिए कौन हैं जिम्मेदार और क्या हों सुधार? पढ़िए, आज के स्पॉटलाइट में जानकारों की राय...

प्रोफेसर राजीव खन्ना, दिल्ली विवि

हमारे देश में न्यायिक प्रक्रिया में दो सबसे बड़ी खामियां हैं। पहला तो यह कि कोर्ट बहुत कम हैं। होना तो यह चाहिए कि गांव, कस्बे स्तर पर अदालतें हों। 5000 की आबादी पर एक अदालत का अनुपात होना चाहिए। दूसरी समस्या हमारी न्यायप्रणाली में है एडजोर्नमेंट की। बात-बात पर वकील 'स्थगन' मांगते हैं और उनको स्थगन मिल भी जाता है। स्थगन पर कानूनी रूप से तमाम बंदिशों के बावजूद स्थगन देने में जज संकोच करते हैं और न वकील मांगने में। दूसरे पक्ष का वकील भी तुरंत स्थगन के प्रस्ताव पर तैयार हो जाता है। इस स्थगन के पीछे का गणित यह है कि जितनी अधिक एक मामले में सुनवाई उतनी अधिक कमाई। एक साथ कई केसों के लड़ने में वकीलों का निहित स्वार्थ है। अधिक केस होंगे तो अधिक मजमा उनके आसपास दिखेगा। अधिक फाइलें टेबिल पर होंगी। जिसका आशय है वह बड़े वकील माने जाएंगे! आखिर बड़ा वकील तो हर कोई बनना चाहता है। जजों को भी कोई परेशानी नहीं है। चलने दो केस।

> हर कॉलेज के साथ एक अदालत संबद्ध हो तो व्यवस्था में काफी सुधार लाया जा सकता है। पर निहित स्वार्थ इसमें बाधक हैं।

सरकारी वकीलों को भी इसी में फायदा दिखता है। उन्हें तो हर बार अदालत में जाने के पैसे मिलते हैं। सुनवाई हो तो ज्यादा पैसे मिलते हैं पर स्थगन हो तो भी निश्चित पैसे मिलते हैं। इसलिए जितनी बार स्थगन मिलेगा उतना ही उनका फायदा। अब सरकार के शीघ्र न्याय के लिए फास्ट ट्रेक कोर्ट को ही देखिए। फास्ट ट्रेक कोर्ट सिर्फ फौजदारी के मामलों में ही बनाए जाते हैं। पर सरकार को सिविल मामलों के लिए कोई चिंता ही नहीं है। सिविल मामलों में लोग सालों अदालत में घिसटते रहते हैं। सिर्फ यही नहीं, इन मामलों को लड़ते-लड़ते लोगों का भारी पैसा खर्च हो जाता है। कई बार तो अपनी जमीन -जायदाद भी गिरवी रखने की नौबत आ जाती है। यह अदालती कार्रवाई में बढ़ती लागत न्याय को हासिल करने में एक बड़ी समस्या बनता जा रहा है। अब तो ऐसे हालत हो गए हैं कि सिर्फ कॉरपोरेट हाउस ही अदालत में खड़े होने का खर्चा उठा सकते हैं। अदालत के माध्यम से न्याय हासिल करने की लागत आम आदमी की पहुंच से तो दूर होती जा रही है।

एक और विरोधाभास देखिए- सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में शाम की अदालतें खोल रही है, पर शहरों में नहीं खोल रही। जैसे बिहार का उदाहरण लें। बिहार में कानून-व्यवस्था के डर से शाम के बाद लोग घरों से बाहर निकलना नहीं चाहते, लाइट नहीं होने की दूसरी समस्या है। इसलिए व्यावहारिक रूप से शाम की अदालतों में काम होता ही नहीं। शहरों में काम हो सकता है, पर शहरों में वकील शाम को काम नहीं करना चाहेंगे। होना तो यह चाहिए कि हर लॉ कॉलेज के साथ एक अदालत संबद्ध की जाए। इसके कई फायदे हैं। लोगों को निशुल्क न्याय मिलेगा और छात्रों को न्याय प्रक्रिया का प्रशिक्षण। न्याय प्रक्रिया भी कुछ पारदर्शी होगी। पर निहित स्वार्थ ऐसा नहीं होने देते।

...स्थगन तो जज ही देते हैं

डॉ. आदीश सी अग्रवाल, वरिष्ठ अधिवक्ता

वर्ष 2002 में सीआरपीसी में एक संशोधन किया गया था जिसके अनुसार वकील को किसी मामले में तीन बार से अधिक स्थगन दिए जाने पर बंदिश है। पर इस नियम को लागू तो जजों को ही करना है। जज इस नियम की सख्ती से पालना ही नहीं कराते। यह जजों की प्रशासनिक क्षमता का दोष है। जज एक दिन में एविडेंस के लिए दस केस दर्ज करा देते हैं। ऐसे में वकीलों को भी पता होता है कि एक दिन में दस तो क्या एक-दो केस की ही सुनवाई होना मुश्किल है। इसलिए वह न तो अपने गवाहों को बुलाते हैं और न ही खुद तैयारी करके आते हैं। अगर वकील को पता हो कि रोज सुनवाई होगी वह भी तैयारी करके आएगा। पर इस व्यवस्था को लागू तो जज ही कर सकते हैं।

विधि आयोग की सिफारिशें

राष्ट्रीय विधि आयोग ने मुकदमों के ढेर को कम करने और न्याय प्रणाली में सुधार के लिए जुलाई 2014 में अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी है। आयोग ने प्रमुख रूप से न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने को कहा है।

न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि

मुकदमों के समयबद्ध निस्तारण के लिए जरूरत इस बात की है कि न्यायाधीशों की मुकदमे निपटाने की दर के आधार पर अधीनस्थ न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या में इजाफा किया जाए। इसके लिए जनसंख्या के अनुपात में न्यायाधीशों की संख्या के आधार को छोड़ना होगा।

जजों की नियुक्ति को प्राथमिकता दी जाए

विभिन्न उच्च न्यायालयों से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्तमान न्याय प्रणाली के कारण मुकदमों के अंबार लगे हुए हैं। वर्तमान प्रणाली इन्हें रोक भी नहीं पा रही है। मुकदमों के इस अंबार को रोकने और इनके समयबद्ध निस्तारण के लिए अधिक संख्या में जजों की नियुक्तियां की जाएं।

अधीनस्थ न्यायालयों के जजों की सेवानिवृत्ति आयु बढ़े

समुचित रूप से प्रशिक्षित न्यायाधीशों की कमी के मद्देनजर अधीनस्थ अदालतों के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु को बढ़ाकर 62 वर्ष कर दिया जाना चाहिए। इससे मुकदमों के ढेर को कम करने में सहायता मिलेगी।

यातायात/पुलिस चालान मामलों के लिए हो विशेष कोर्ट

अधीनस्थ न्यायालयों में नए दायर हो रहे मामलों में यातायात या पुलिस चालान सम्बन्धी मामले 38.7 फीसदी होते हैं। लंबित मामलों में भी इनकी संख्या 37.4 प्रतिशत है। इन मामलों के निस्तारण के लिए नियमित न्यायालयों से इतर सुबह और शाम को संचालित होने वाले विशेष न्यायालय शुरू किए जाएं। नए विधि स्नातकों को अल्पकाल के लिए इन नए न्यायालयों का पीठासीन अधिकारी बनाया जा सकता है। ये न्यायालय जुर्माने आदि से संबंधित मामलों को ही निपटाएं। जहां जेल जैसी सजा के मामले हों, उन्हें नियमित न्यायालय में निपटाया जाए। इसके अलावा जुर्माने को जमा कराने के लिए ऑनलाइन भुगतान की सुविधा होनी चाहिए। न्यायालय परिसर में जुर्माना जमा करवाने के लिए अलग काउंटर लगाए जाने चाहिए।

अतिरिक्त न्यायालयों के लिए आधारभूत सुविधाएं

अतिरिक्त न्यायालयों के लिए पर्याप्त स्टाफ और आधारभूत ढांचागत सुविधाओं के उचित प्रबंध किए जाएं ताकि इन न्यायालयों को कार्यशील बनाया जा सके।

उच्च न्यायालय द्वारा समीक्षा जरूरी

विधि आयोग का वर्तमान कार्य, वर्ष 2012 तक की स्थिति पर आधारित रहा है। लेकिन, भविष्य में कितनी अधीनस्थ अदालतों और उनके न्यायाधीशों की आवश्यकता होगी, इसका अनुमान लगा पाना कठिन है। इसके लिए उच्च न्यायालयों को चाहिए कि समय-समय पर न्यायाधीशों की संख्या, उनकी निस्तारण दर और मुकदमों के लंबित होने की स्थिति का आकलन करते रहें और आवश्यक कदम उठाते रहें।

समयसीमा के भी बनें नियम

प्रशांत नारंग , सीसीएस

भारत में न्याय मिलने में विलंब के लिए कई प्रक्रियागत खामियां जिम्मेदार हैं। न्याय प्रक्रिया में सुधार के लिए कुछ कदम उठाए जाने चाहिए।

स्वायत्तता के तमाम प्रावधानों के बावजूद भारत में न्यायपालिका आज भी आर्थिक रूप से सरकार पर ही निर्भर है। कहने को न्यायपालिका हमारी प्रणाली का एक अहम और पृथक अंग है पर न्यापालिका के लिए अलग से कोई बजट नहीं होता है, जैसा कि रेलवे के लिए होता है। न्यायपालिका के लिए अलग से बजट होगा तो इससे प्रणाली में पारदर्शिता आएगी कि न्याय सुनिश्चित करने के लिए हमारी प्रणाली कितना पैसा खर्च करती है। यह खर्च आबादी और केसों की संख्या बढ़ने के साथ किस अनुपात में बढ़ रहा है। हमारे देश में जिला स्तर पर तो अदालतों की हालत बहुत ही खस्ता है।

आज हमारे पास यह जानने का कोई तरीका नहीं है कि अलग-अलग जिला स्तरीय और उच्च न्यायालयों में किन मामलों में कितने दिन में फैसला हुआ, क्या निर्णय हुआ, एक जज एक निर्णय लेने में कितना समय लेता है और किस तरह के फैसले आ रहे हैं। इसके लिए जरूरी है कि सभी न्यायालयों का नेशनल ज्यूडिशियल ग्रिड बनाया जाए, जिसका डाटा ऑनलाइन उपलब्ध रहे। ओईसीडी (ऑर्गनाइजेशन फॉर इकोनॉमिक कॉपरेशन एंड डेवलपमेंट) देशों की एक रिपोर्ट के अनुसार जिन देशों में न्यायपालिका का कंप्यूटरीकरण हो चुका है वे ट्रायल पर अपेक्षाकृत कम समय खर्च करते हैं। उदाहरण के लिए जापान में एक सिविल केस के ट्रायल का औसत समय 107 दिन है। पर भारत में तलाक के मामलों का औसत समय 15 साल बताया जाता है। कानूनों का सरलीकरण करने की भी जरूरत है। सरलता से आशय है कि उनमें निश्चितता हो। लोगों को यह समझ में आए कि कानून क्या कह रहा है। अभी एक व्यक्ति के लिए जिला अदालत ने अगर कोई फैसला सुना दिया तो उस पर आदमी यह निर्णय नहीं कर पाता है कि इस मामले में ऊपर की अदालत में जाना चाहिए या नहीं!

हाईकोर्ट में सिर्फ बड़े केस ही लिए जाएं। उदाहरण के लिए अभी दिल्ली में बीस लाख से अधिक के सभी दीवानी मामले हाईकोर्ट में जाते हैं। ये सीमा बढ़ाकर 2 करोड़ की जाए। इससे हाईकोर्ट में केसों का बोझ कम होगा। ट्रैफिक चालान आदि के मामले अदालतों में नहीं भेजे जाने चाहिए। इनको निपटाने के लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था अपनाई जाए। ऑनलाइन निपटारे का विकल्प भी होना चाहिए - अर्थात जो व्यक्ति ऑनलाइन जुर्माना देने के लिए तैयार हो उसे वह विकल्प भी दिया जाए। भारत में ट्रैफिक चालान केसों की संख्या कुल केसों का 38 प्रतिशत तक है। चेक बाउंस के केसों में भी यह व्यवस्था होनी चाहिए कि पहले जिस व्यक्ति ने फर्जी चेक जारी करके भरोसा तोड़ा है उससे अदालत चेक में लिखी राशि अपने पास जमा करवाए तब उसे अपनी सफाई में कुछ कहने का मौका दे। इससे इस तरह के मामले अपने आप ही आने कम हो जाएंगे।

वकीलों को भी चाहिए कि वे 'स्थगन' कम से कम लें। यह देखा जाता है कि जज प्रायः वकील के साथ सख्त नहीं होते। उदाहरण के लिए सुप्रीम कोर्ट का निर्णय है कि वकील हड़ताल पर नहीं जा सकते। पर प्रायः यह देखने में आता है कि निचली अदालतों और हाईकोर्ट के वकील हड़ताल पर जाते रहते हैं और अदालतें सख्त रवैया नहीं अपनाती हैं।

कोर्ट की कार्रवाई की वीडियोग्राफी भी होनी चाहिए। इससे न्यायाधीशों में जिम्मेदारी का भाव भी जगेगा और पारदर्शिता भी आएगी। सुप्रीम कोर्ट ने 2002 में पी रामचंद्र बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक के मामले में फैसला दिया है कि वह किसी निचली अदालत को इस तरह के निर्देश नहीं दे सकती कि किसी केस को कितने दिन में निपटा दिया जाए। हर केस अलग होता है और इसके बारे में पूर्व में तय नहीं किया जा सकता कि वह कब तक पूरा होगा। जबकि अमरीका में स्पीडी ट्रायल एक्ट यह प्रावधान करता है कि एक खास प्रकार के केस को निपटाने में कितना समय लगना चाहिए।

मुकदमे से पूर्व क्यों न हो समस्या का निस्तारण

शिवकुमार शर्मा
सेवानिवृत्त न्यायाधीश, राज. उच्च न्यायालय

न्याय की आंखों पर पट्टी तो पहले ही बंधी हुई थी और अब उसको बैसाखी भी पकड़ा दी गई है। वह इसी के सहारे चल रहा है। मामलों का निस्तारण पूजा करने के भाव से करना चाहिए। यदि ऐसा हो तो मामलों के अंबार ही नहीं लगेंगे। यदि इच्छा है कि मुकदमों के अंबार ना लगें तो इसके लिए तरीके भी मौजूद हैं लेकिन आवश्यकता है, उन तरीकों को दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ इस्तेमाल करने की। हमारे देश में अब आम व्यक्ति जागरूक हो गया है और वह अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्ष करता है। इसके लिए वह कोर्ट में मुकदमे का सहारा भी लेता है। यह देखने में आया है कि ज्यादातर मामले सरकार से संबंधित होते हैं। ऐसे में यह बहुत जरूरी है कि सरकार के अधिकारी व कर्मचारी समय पर बात को सुनें और उनका निस्तारण करें। होता यह है कि पहले मामला निचली अदालत में फिर हाईकोर्ट, रिव्यू और फिर सुप्रीम कोर्ट में चला जाता है। इस सारी प्रक्रिया में मुकदमों का अंबार लग जाता है। अब इंटरनेट का युग है और एक ही प्रकृति के मुकदमों को वर्गीकृत करना अब काफी सरल हो गया है। बेहतर यही होगा कि एक ही प्रकृति के मुकदमों को वर्गीकृत करके उन्हें एक साथ निस्तारित किया जाए। इससे मुकदमों के अंबार में काफी हद तक कमी आएगी। दूसरे सुधार के तौर हमें चाहिए कि हम मामलों के मुकदमों को शुरुआत से पहले ही समाप्त कर दें। यदि किसी विवाद को हम बीज रूप में ही समाप्त कर देंगे तो उसका अस्तित्व ही नहीं होगा और मुकदमों के अंबार से बचा जा सकेगा।

उदाहरण के तौर पर, लीगल सर्विसेज ऑथोरिटी एक्ट-1987 की धारा 21 के तहत ऐसी व्यवस्था बनाने का जिक्र है। मैंने भी प्रयास किया था, लीगल सर्विसेज क्लीनिक के जरिये। जिस व्यक्ति को परेशानी होती थी, वह मुकदमे के पहले अपनी शिकायत देता था और इस मामले में जिससे शिकायत होती थी उसके पास नोटिस जाता था। इसके बाद जवाब के आधार पर राजीनामा करवा दिया जाता था। दोनों पक्षों के हस्ताक्षर के बाद यह राजीनामा सिविल कोर्ट की डिक्री का रूप ले लेता था। इस तरह के फैसले के खिलाफ अपील भी नहीं की जा सकती। इस तरह बिना किसी खर्चे के बेहद कम समय में मामले का निस्तारण किया जा सकता है। व्यक्ति की ज्यादातर लड़ाई अहम को लेकर होती है। इसके लिए मुकदमों की आवश्यकता कहां है ? हम जनता को सस्ता और सुलभ न्याय दिलवा सकते हैं, आवश्यकता यह है कि मामले को बीज रूप में समाप्त कर दिया जाए। इसके लिए समस्याओं को आपसी स्तर पर ही सुलझा लिया जाए। यदि फिर भी समस्या का समाधान ना हो तो लीगल सर्विसेज क्लीनिक जैसी व्यवस्था को माध्यम बनाया जा सकता है।